12.7.4 कानून-निर्माण शक्ति संबंधी संप्रभुता

यह सिद्धांत संप्रभुता को कानून के अनुसार सरकार में सभी कानून-निर्मात– निकायों के कुलयोग में ढूँढता है। राज्य में सभी निकाय, राज्येच्छा की अभिव्यक्ति में स्वयं को कानूनी रूप से बाँटते हुए संप्रभु भी होते थे। इनमें शामिल थे : न्यायालय (क्योंकि वे कानून रचते थे), प्रषासनिक पदाधिकारीगण (चूँकि उनके पास विवेकाधिकार थे), निर्वाचक (क्योंकि वे मामले चुनावों व जनमत-संग्रह के माध्यम से निबटाते थे) ओर ऐसे ही अन्य विषेष निकाय। यह सिद्धांत राज्य व सरकार प्रत्येक को एक इकाई समझता है और संप्रभुता दोनों में निहित होती है, परन्तु प्रयोग सरकार द्वारा की जाती है। इस प्रकार, समग्रता में, राज्य एक इकाई है परन्तु इसका अधिकार प्रयोग सरकार के अनेक अंगों के बीच बाँटा जाना होता है। इस प्रकार, यह सिद्धांत जन-संप्रभुता संबंधी सिद्धांत की अस्पष्टता और भ्रमात्मक सोच से बचता है। संप्रभुता अन्ततोगत्वा राज्य में ही रहती है, परन्तु उसकी सरकार द्वारा निर्मित और प्रदत्त कानूनों के माध्यम से ही संप्रभुता अभिव्यक्त की जा सकती है।

12.8 डी ज़ॉर और डी फैक्टो संप्रभुता

संप्रभुता का यह पहलू अन्तरराष्ट्रीय कानून द्वारा लागू किया गया है। जब कभी भी किसी देष में राजनीतिक उथल-पुथल होती है अथवा कोई गृह-युद्ध होता है अथवा कोई इस प्रकार की स्थिति हो जाती है तो हमारे पास दो प्रकार की सरकार होती हैं – वैध सरकार, जो निर्मूल कर दी गई हो और नयी सरकार, जो यद्यपि वैध नहीं है पर वास्तविक सत्ता रखती है। इस प्रकार की स्थिति में, (कौन-सी) सत्ता को मान्यता वाली माना जाये का प्रष्न उठता है। वैध संप्रभुता ऐसी सर्वसत्ता है जो राज्य को उच्चतम आदेष जारी करने हेतु कानूनन सक्षम है। इसको संप्रभु-षक्ति प्रयोग का कानूनी अधिकार होता है और जन-साधारण का स्वीकार्य। एक वास्तविक (डी फ़ैक्टो) संप्रभुता ऐसी सर्वसत्ता है जिसके पास वास्तविक शक्ति होती है और जो उससे सहमत होने के लिए वास्तविक आदेष रखती है। उसका प्राधिकार शारीरिक बल और नियंत्रण में निहित होता है। वह एक राज्यापहरण करने वाला राजा, एक तानाषाह, एक पादरी, एक पैगम्बर, अपना एक करिष्माई नेता हो सकता है। इन किसी भी उदाहरणों में, उसकी शक्ति कानून में नहीं वरन् शारीरिक बल व वास्तविक नियंत्रण में निहित होती है।

संप्रभुता के वास्तविक प्रयोग संबंधी उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। सन् 1649 में, इंग्लैण्ड में क्रौम्वैल लम्बे समय से स्थायी संसद को भंग करके वास्तविक संप्रभु बन गया। नैपोलियन डायरैक्टॅरि को समाप्त कर फ्रांस का वास्तविक संप्रभु बना। सन् 1917 में, ज़ार निकोला को रूसी जनता द्वारा अपदस्थ कर दिया गया और वास्तविक संप्रभुता लैनिन के नेतृत्व में बोल्षविक पार्टी के हाथों में आ गई। इसी प्रकार, 1949 में माओ-ज़ेदौंग के नेतृत्व में, वैध संप्रभु चियांग काइ-षेक को चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा हटा दिया गया, और वहाँ उसके नेतृत्व में समाजवादी राज्य वास्तविक बन गया। सन् 1975 में बांग्लादेष, 1976 में अर्जेन्टीना व लेबनान, 1977 में व फिर 2001 में पाकिस्तान, 1978 में अफ़गानिस्तान, 1979 में ईरान एवं 1980 में युगांडा में फ़ौजी तख़्ता-पलट के कारण इसी प्रकार की स्थितियाँ पैदा हुईं। किसी देष में जब कोई गृह-युद्ध होता है तो इसी तरह की स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

एक वास्तविक संप्रभु आगे चलकर एक वैध संप्रभु भी बन सकता है, क्योंकि उसके पास वास्तविक सत्ता होती है। वास्तविक संप्रभु का हमेषा यह प्रयास होता है कि स्वयं को एक वैध संप्रभु में तब्दील कर ले। चूँकि वास्तविक सत्ता वास्तविक संप्रभुता में ही निहित होती है, वह अपना दावा जतलाने और आगे चलकर एक कानूनी संप्रभुता के रूप में मान्य होने के लिए एक बेहतर स्थिति में होता है।

तथापि, कुछ न्यायषास्त्री यह कहते हैं कि संप्रभु महज एक कानूनी अवधारणा है और वास्तविक एवं वैध संप्रभु के बीच भेद एक राजनीतिक गल्प कथा (Fiction) है, क्योंकि एक वास्तविक संप्रभुता का प्राधिकार अवैध होता है। परन्तु यह एक बात अवष्य समझ लेनी चाहिए, यथा वास्तविक एवं वैध के बीच भेद अधिकार प्रयोग के संबंध में ही होता है। यह बात मुख्यतः अन्तरराष्ट्रीय कानून एवं लोकतंत्र के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। यह प्रष्न एक राज्य में केवल किसी क्रांति, राज्य-विप्लव, गृह-युद्ध, आदि के उदाहरण में ही महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि ऐसे मामलों में संप्रभुता हेतु बहुत अधिक संख्या में राजनीतिक दावे उभरकर आते हैं।

बोध प्रष्न 4

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) संप्रभुता संबंधी विभिन्न स्रोतों को सूचीबद्ध करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) संप्रभुता संबंधी किन्हीं दो स्रोतों का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

12.9 संप्रभुता विषयक सीमाएँ

हम पहले ही काफी विस्तार में यह चर्चा कर चुके हैं कि संप्रभु ही बिना किसी कानून प्रतिबन्ध के राज्य की सर्वोच्च सत्ता होती है। परन्तु यथार्थ व्यवहार में, कुछ सीमाएँ हैं, जो उसकी शक्तियों के प्रयोग को सीमित कर सकती हैं अथवा उन्हें ऐसा करना चाहिए।

12.9.1 नैतिक सीमाएँ

अनेक पूर्वकालीन लेखकों का दावा था कि संप्रभु दैवी कानून द्वारा, प्राकृत-कानून द्वारा अथवा नैतिक कानून द्वारा मर्यादित है। वे आमतौर पर धर्म, नैतिकता एवं न्याय के सिद्धांतों को स्वीकार करते थे, जो कि निस्संदेह संप्रभु के प्रयोग को प्रभावित करते हैं। परन्तु ईष्वरीय एवं प्राकृत कानूनों की मानव अभिकर्त्ताओं द्वारा व्याख्या की जानी आवष्यक होती

है; वे अपने आप किसी संप्रभुता का प्रयोग नहीं करते। वे कानूनी मर्यादाएँ नहीं बल्कि उस बौद्धिक वातावरण का एक भाग मात्र हैं, जिसमें कानून बनाए जाते हैं। वे संप्रभु पर सिर्फ़ इस अर्थ में प्रतिबंध लगाते हैं कि एक अनुभव-सम्पन्न राज्य ऐसे कानून लागू नहीं करेगा जो आमतौर पर स्वीकृत नैतिकता व न्याय संबंधी विचारों के विरुद्ध हों, विरोध के कारण ऐसे कानून पैदा होंगे जो उन्हें लागू करने में परेषानियाँ, यहाँ तक कि क्रांति, की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं। केवल ऐसे ही कानूनों को एक आम रायषुमारी द्वारा समर्थन दिया जाता है जिनको सफलतापूर्वक लागू किया जा सकता है। आधुनिक राज्यों में, जीवन के अनेक पहलुओं को सरकारी हस्तक्षेप से छूट प्राप्त है, और कोई भी राज्य जो मानव जीवन के कुछ निष्चित संबंधों में हस्तक्षेप हेतु अपनी कानूनी शक्ति का प्रयोग करने का प्रयास करेगा, उसे भारी विरोध का सामना करना पड़ेगा और यहाँ तक कि एक क्रांति के माध्यम से उसे उखाड़ फेंका भी जा सकता है।

12.9.2 संवैधानिक सीमाएँ

कुछ लेखकों ने दावा किया है कि संप्रभुता राज्य के संविधान द्वारा परिसीमित होती है। वे बुनियादी अथवा संवैधानिक कानून और सरकार द्वारा बनाए गए आम कानूनों के बीच भेद करते हैं – पूर्ववर्ती को उच्चतर कानून मानते हैं, और परवर्ती को तभी वैध मानते हैं जब वह पूववर्ती के अनुसार हों। इस दृष्टिकोण से, दो आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं। राज्य की संप्रभुता संविधान द्वारा परिसीमित नहीं है, क्योंकि राज्य जब भी चाहे अपने संविधान में कानूनन संषोधन कर सकता है। अपने आप थोंपी गई और मर्ज़ी से हरा देने योग्य सीमा कोई वास्तविक अथवा कानूनी सीमा नहीं होती। संविधान द्वारा जो परिमित है वह राज्य अथवा उसकी संप्रभुता नहीं है, बल्कि राज्य की सरकार है। परन्तु अपनी संप्रभु शक्तियों के एक वैध व्यवहार-वितरण हेतु यह प्रावधान स्वयं संप्रभुता पर कोई सीमा-निर्धारण नहीं करता।

दूसरी ओर, एक उच्चतर कानून और एक निम्नतर कानून जैसी कोई चीज़ नहीं होती। कानून उस व्यवस्था उस समस्या के महत्त्व में भिन्न हो सकते हैं जिनसे उनका संबंध हो। दोनों ही राज्य की संप्रभु शक्ति का वही हिस्सा प्रयोग करते हैं जो कि इसकी संगठन-संबंधी कानूनी व्यवस्था उन्हें सौंपती है। संविधान स्वभाव व उद्देष्य में अन्य कानूनों से भिन्न होता है, परन्तु कानूनी वैधता में नहीं होता। अन्य कानूनों के तरह ही, यह राज्य की संप्रभु इच्छा की एक अभिव्यक्ति होता है, न कि उस पर लगाया गया कोई प्रतिबन्ध।

12.9.3 अन्तरराष्ट्रीय सीमाएँ

आज अनेक लेखक यह दावा करते हैं कि किसी राज्य की संप्रभुता अन्तरराष्ट्रीय कानून के नियमों द्वारा और उन संधियों व समझौतों द्वारा परिसीमित होती है, जो वे अन्य राज्यों के साथ करते हैं। संप्रभुता के यथार्थ, न्यायषास्त्रीय सिद्धांत के अनुसार, ये सीमाएँ कानूनन बाध्यकारी नहीं हैं। ये स्वैच्छिक, स्वयं लागू की गई सीमाएँ हैं, जो कि एक राज्य कानूनन अस्वीकार कर सकता है, और कोई भी कानूनी प्राधिकरण ऐसा नहीं होता जो उन्हें बलपूर्वक लागू करे। राज्यों को अवष्य ही, अन्तिम विष्लेषण में, अपने अधिकारों एवं दूसरों राज्यों के प्रति दायित्वों का निर्णायक होना चाहिए। वे अपनी संधियों को अस्वीकार कर सकते हैं, अन्तरराष्ट्रीय कानून के नियमों को स्वीकार करने में बाध्यता से इंकार कर सकते हैं, और अन्तरराष्ट्रीय कानूनों संबंधी अपनी व्याख्या की रक्षार्थ युद्ध की घोषणा कर सकते हैं। अन्तरराष्ट्रीय कानून इस अर्थ में कानून नहीं है कि अधीनस्थों पर थोंपी जा सकने वाली यह एक निर्धारित संप्रभु की इच्छा है।

यदि, कुछ लेखक मानते हैं, यह वर्तमान प्रवृत्ति एकीकृत नियंत्रण वाले एक अन्तरराष्ट्रीय संप्रभु संगठन के विकास की ओर हो, तो परिणाम एक विष्व संप्रभु राज्य होगा, जिसके पास कानून बनाने व लागू करने का अधिकार होगा। उस स्थिति में, जिसे अब हम अन्तरराष्ट्रीय कानून कहते हैं कानून होगा, परन्तु तब यह अन्तरराष्ट्रीय नहीं रहेगा, क्योंकि यह एक विष्व-राज्य की एकीकृत इच्छा होगी। जिसको अभी बाह्य संप्रभुता कहते हैं, का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा, क्योंकि उसको विष्व व्यवस्था की आन्तरिक संप्रभुता द्वारा हड़प लिया जाएगा। अधिकांष लेखक, हालाँकि, यह मानते हैं कि संप्रभु राष्ट्रीय राज्यों के आधार पर अन्तरराष्ट्रीयवाद विकसित करने के लिए, वर्तमान परिस्थितियों में, यह अधिक व्यवहार्य होगा। यदि यह किया जाना है, तो बाह्य-संप्रभुता संबंधी पारम्परिक सिद्धांत एवं राज्यों की समानता को अवष्य ही आधुनिकीकृत किया जाना चाहिए ताकि अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण की एक निष्चित मात्रा को ही अनुमति मिले।

12.10 संप्रभुता-सिद्धांत विषयक आलोचनाएँ

राज्य के सारतत्त्व के रूप में संप्रभुता संबंधी संकल्पना की बेहद तीखी आलोचना की गई है। लेखकों का एक वर्ग यह तर्क देता है कि राज्य के अस्तित्व के लिए संप्रभुता आवष्यक नहीं है, लेखकों का एक अन्य वर्ग इस बात से इंकार करता है कि संप्रभुता ही कानून का स्रोत है, तिस पर भी एक अन्य वर्ग इस तथ्य को ठुकराता है कि संप्रभुता ही राज्य का अनन्य स्वत्व है और यह तर्क देता है कि संप्रभुताओं के बाहुल्य से ही विभिन्न संस्थाएँ सम्पन्न होती हैं।

लेखक जो यह कहते हैं कि संप्रभुता आवष्यक नहीं है, तर्क देते हैं कि राज्य अंषतः संप्रभु हो सकते हैं और राज्य-पद की कसौटी ही शासनाधिकार है। ये बेहद जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड और अमेरिका के थे और वे राज्य-पद के दावे पर तो सहमत हुए, पर पूर्ण संप्रभुता पर नहीं। यहाँ तक कि आज के राजनीतिक निकाय, जिनके पास अपना संविधान और सरकार है, पूर्णतः संप्रभु नहीं है। कुछ लेखक इस सिद्धांत को व्यर्थ और खतरनाक मानते हैं क्योंकि यह असीमित अधिकारों की ओर प्रवृत्त करता है; जबकि अन्य लेखक राज्यीय संप्रभुता संबंधी धारणा की तीखी आलोचना करते हैं, क्योंकि उनकी इच्छा राज्य के सिवा अन्य संस्थाओं को पूर्ण स्वायत्तता देने की है; अन्य इसलिए कि उनकी वैयक्तिक स्वतंत्रता में रुचि है। राज्यीय संप्रभुता की तीखी आलोचना आधुनिक राज्य के सरकारी संगठन में कुछ दोषों को इंगित करने में महत्त्वपूर्ण है, जो संप्रभुता अधिकार-प्रयोग में अड़चन डालते हैं।

हाल ही के बीते वर्षों में, न्यायषास्त्रियों द्वारा आलोचना की तुलना राज्य संप्रभुता से की गई है जो कि कानून की सर्वोच्च और एकमात्र स्रोत होती है। इस अवधारणा को कि राज्य की संप्रभुता प्राकृत कानूनों द्वारा वैध रूप से परिसीमित होती है, स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि राज्य उन सिद्धांतों को परखता और अनुभव करता है। ऐसी सीमाएँ कानूनी रूप से बाध्यकारी नहीं होतीं, बल्कि सिर्फ़ स्वयं सीमाकारी होती हैं। इसका अर्थ कोई संप्रभुता पर प्रतिबंध नहीं है।

इस अवधारणा की एक और तीखी आलोचना के अनुसार, सर्वोच्च प्राधिकार हेतु राज्य का दावा आज के जटिल संसार में वास्तविक तथ्यों के अनुसार नहीं है। उन्होंने राज्य पर संदेह किया, एक स्वतंत्र एवं एकीकृत संप्रभुता के सिद्धांत का विरोध किया और अन्य अभिकरणों के लिए सामाजिक नियंत्रण के एक अधिक बड़े हिस्से की माँग की। इस प्रकार की आलोचना का उद्देष्य प्राधिकार के विकेन्द्रीकरण और अधिक वैयक्तिक स्वतंत्रता पर ध्यान देना था।

आज, आर्थिक हितों की वृद्धि, और आर्थिक संघों की शक्ति ने उनके और सरकार के विद्यमान अंगों के बीच प्राधिकार संबंधी विवाद पैदा कर दिए हैं। राज्य अपने संगठन व कानून को नई परिस्थिति के अनुसार एकदम अनुकूलित नहीं कर लेता। ऐसे वक्त में, राज्य का निरंकुष और असीमित प्राधिकार संबंधी सिद्धांत ख़तरनाक और अवांछित लगता है। इस कारण से, बहुवाद ही स्वाभाविक दृष्टिकोण है। बहुवादी लोग एक तेज़ी से बदलती सामाजिक व्यवस्था में राजनीतिक जीवन के वास्तविक तथ्यों के अध्ययन की आवष्यकता पर ज़ोर देते हैं। इस संबंध में राज्य द्वारा अति-हस्तक्षेप का ख़तरा और राजनीतिक तंत्र में अधिक वैध मान्यता दिए जाने की वान्छनीयता की ओर इषारा करते हैं।

तथापि, यह समस्या राज्य के उचित आन्तरिक संगठन एवं उसकी कार्यवाहियों के उचित कार्यक्षेत्र संबंधी है, और इसका अर्थ राज्य-संप्रभुता संबंधी सिद्धांत का परित्याग नहीं है। कहीं तो सर्वोच्च कानूनी नियंत्रण संबंधी कोई संगठन होना चाहिए और वैसे काफ़ी कुछ राज्य ही अपनी कार्यवाहियों की सीमित कर सकता है अथवा अपने आंतरिक प्राधार को पुनर्संगठित कर सकता है, एक संप्रभु राज्य फिर भी कायम है। यहाँ तक कि भूमण्डलीकरण के इस वर्तमान युग में की, जब राज्य संप्रभुता को प्रतीयमानतः विभिन्न अधि-राष्ट्रीय अभिकर्त्ताओं से ख़तरा है।

बोध प्रष्न 5

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों के सुझावों के लिये इकाई का अंत देखें।

1) संप्रभुता नैतिकता द्वारा किस प्रकार परिसीमित है?

.....

12.11 सारांश

इस इकाई में, हमने संप्रभुता की अवधारणा पर एक सिद्धांत दृष्टि डाली, जिसका अनिवार्यतः अर्थ है कि राज्य किसी प्राधिकार प्रभाव की मदद से अपने सभी कार्यों को निष्पादित करता है। इसके लक्षणों में आते हैं – चरमता, जिसका अर्थ है कोई आंतरिक अथवा बाह्य सीमाएँ नहीं; सर्वव्यापकता, जिसका अर्थ है राज्य में हर व्यक्ति पर उसका अधिकार; स्थायीत्व, जिसका अर्थ है राज्य के बने रहने तक उसकी निरन्तरता; और अभाज्यता, जिसका अर्थ है सिर्फ़ एक ही प्रभुसत्ता होती है।

संप्रभुता आमतौर पर उदयीमान राष्ट्रीय राज्यों के बीच विवाद के कारण जन्मी। जब राज्य को उसके सभी नागरिकों पर सर्वोच्च के रूप में मान लिया गया, संप्रभुता की अवधारणा चरम और असीमित के रूप में सिद्ध हो गयी। तथापि, संप्रभुता के विचार की एक भिन्न ढाँचे में व्याख्या की गई। कानूनी संप्रभुता को एक सर्वोच्च कानून-निर्यात– शक्ति के रूप में समझा गया, जो कि किसी कानून से नहीं बँधी थी। इसके कानून सभी द्वारा पालन किए जाने थे और इसमें दण्ड और अवज्ञा शामिल थे। ऑस्टिन इस धारणा के मुख्य व्याख्याता थे। दूसरी ओर, राजनीतिक संप्रभुता जनसाधारण की क्रांतिकारी शक्ति थी जो किसी भी वैध संप्रभु को नष्ट कर सकती थी। अतः, एक प्रतिनिधि लोकतंत्र में, वैध संप्रभुता को राजनीतिक संप्रभुता के साथ अन्तरंग सानिध्य में काम करना पड़ता था। अन्यथा, क्रांतिकारी राजनीतिक संप्रभुता द्वारा वैध संप्रभुता के समाप्त होने का ख़तरा होता था।

संप्रभुता का अर्थ यह भी लगाया जाता है कि प्रजाजन के पास सर्वोच्च सत्ता है और कि वे ही सभी शक्तियों के स्रोत हैं। रूसो ने अठारहवीं शती के दौरान आम इच्छा संबंधी अपनी सिद्धांत-व्याख्या में इसका समर्थन किया था। यह सिद्धांत ही आधुनिक लोकतंत्रों का इतिहास है। लोकप्रिय संप्रभुता सिद्धांत इस बात की मान्यता देता है कि आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यों में संप्रभु शक्तियाँ व्यापक रूप से वितरित हैं और एक बड़ी संख्या में नागरिकों द्वारा प्रयोग की जाती हैं।

हर राज्य संप्रभु शक्ति का प्रयोग कुछ निष्चित भौतिक एवं वैचारिक तंत्रों की सहायता से करता है। भौतिक तंत्र वे हैं जो राज्य की संप्रभुता को एक भौतिक रूप में अथवा एक वास्तविक दृष्य रूप में प्रभावी बनाते हैं। वैचारिक तंत्र वे हैं जो आम जनता में आज्ञापालन की आदत डालते अथवा उनको अभ्यस्त बनाते हैं और एक ऐसा माहौल पैदा करते हैं, जिसमें संप्रभुता की दिषा में लोगों की सहमति प्राप्त की जा सकती है। राज्य का भौतिक तंत्र आज्ञापालन हेतु शारीरिक बल प्रयोग करता है और, इस प्रकार संप्रभु आदेष को प्रभावी बना देता है। वैचारिक तंत्र संप्रभु को आम जनता में आज्ञापालन का मानस बनाकर और वर्तमान सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था को वैधता प्रदान कर प्रभावी बनाता है।

वर्तमान शती सभी सत्तावादी विचारों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया वाली शताब्दी है। संप्रभुता का बहुवादी दृष्टिकोण संप्रभुता के कानूनी, पारम्परिक, एकसत्तावादी, निरंकुष, ऑस्टिनवादी सिद्धांत के विरुद्ध और उस फासिस्ट, असीमित, सम्पूर्ण राज्य के सिद्धांत के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी जिसका समर्थन हेगेल जैसे आदर्षवादी दार्षनिकों एवं नीत्ज़्से, त्रीत्सके व बर्नहार्डी जैसे राज्य व राजनीति संबंधी सत्ता-विचार के समर्थकों द्वारा किया गया। इसको राज्य की नितान्त केन्द्रीकृत संप्रभुता के विरुद्ध प्राधिकार के विकेन्द्रीकृत हेतु एक सषक्त आवाज़ कहा गया। यह 19वीं सदी के अन्तिम दषकों एवं 20वीं सदी के आरम्भ में उच्चतम और सर्वोच्च सत्ता के रूप में लेते थे। इस प्रकार, बहुवाद असीमित राज्य व संप्रभुता के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया था; यह राज्य की निरंकुषता एवं उसकी निरंकुष संप्रभुता पर एक प्रहार था; यह राज्य की संप्रभुता को काबू करने, सीमित करने व विभाजित करने हेतु एक आवाज़ था; यह राज्य के विरुद्ध अधिकारों व सत्ता की माँगों को पूरा करने हेतु श्रमिक, आर्थिक, धार्मिक एवं व्यावसायिक संस्थाओं वं संघों का एक आन्दोलन था।

12.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

रे, अमल एवं मोहित भट्टाचार्य, *पॅलिटिकॅल थिअरी : आइडियाज़ एण्ड इंस्टीट्यूषन्ज़,* द वर्ल्ड प्रैस, 1985 (नया संस्करण देखें)

राफैल, डी.डी., *प्रॉब्लम्स ऑफ पॅलिटिकॅल फ़िलोसॅफी,* मैकमिलन, लन्दन, 1985

अप्पाओद्रे, ए., *द सब्स्टॅन्स ऑफ पॅलिटिक्स,* ओ.यू.पी., दिल्ली, 1985

आसिरवथम्, एड्डी, *पॅलिटिकॅल थिअरी,* दि अपर इण्डिया पब्लिषिंग हाउस, 1984